



दीक्षांत से शिक्षांत तक

डॉ. केशव माधवराव मोरे

हिंदी विभाग

संत तुकाराम महाविद्यालय, कन्नड

Corresponding Author: डॉ. केशव माधवराव मोरे

DOI- 10.5281/zenodo.14627397

सारांश :

प्रस्तुत उपन्यास के माध्यम से लेखिका सूर्यबाला ने शिक्षा क्षेत्र में उत्पन्न व्यवसायिकता एवं बाजारवाद को अभिव्यक्त किया है। शिक्षा हमें ज्ञान, संस्कार, नैतिकता एवं मानवता का पाठ पढाकर समाजशील एवं संवेदनशील मनुष्य बनाती है। मनुष्य का सर्वांगीण विकास शिक्षा पर निर्भर है, किंतु आज शिक्षा केवल उपाधि देने तक सीमित रह गई है। मनुष्य संवेदनाहीन शिक्षित यंत्रमानव बन रहा है। इस स्थिति के लिए आखिर कौन जिम्मेदार है। इस प्रश्न का उत्तर देने के लिए इस उपन्यास में कई घटनाओं को प्रस्तुत किया गया है। जिसके माध्यम से हम इस भयावह स्थिति से अवगत हो सकते हैं। साथ ही शिक्षा जगत से जुड़ी तमाम समस्याओं को इस उपन्यास के माध्यम से उठाया गया है।

मुख्य शब्द : शिक्षा, बेरोजगारी, मेधावी छात्र, ईमानदार अध्यापक, मानसिक अंतर्द्वंद्व, व्यवसायिकता, बाजारवाद, संस्कार एवं ज्ञान।

भूमिका :

हिंदी साहित्य की मूर्धन्य हस्ताक्षर कथाकार सूर्यबाला ने साहित्य की विभिन्न विधाओं में लेखन कार्य किया है। उपन्यास, कहानी, व्यंग्य, डायरी एवं संस्मरण आदि विधाओं में उन्होंने अपनी कलम चलाई है। मूलतः अवसाद, करुणा और द्वंद ही उनके सृजन का केंद्रबिंदु रहा है। उन्होंने इसी केंद्रीय भाव को मध्य नजर रखते हुए अपने रचना संसार का निर्माण किया है। दीक्षांत उपन्यास भी उसी तत्व का साकार रूप है। यह उपन्यास एक अस्थायी किंतु ईमानदार अध्यापक के अंतरिक द्वंद, अवसाद, करुणा एवं हताशा की करुण गाथा है। मेधावी, परिश्रमी एवं संस्कारी छात्र से लेकर निराश, हताश एवं लाचार बने अस्थायी अध्यापक की यह कहानी है। जिसमें शिक्षा व्यवस्था में पनप रहे व्यवसायिकता को उजागर किया गया है।

कथानायक विद्याभूषण शर्मा के पिता सीधे-साधे अध्यवसायी स्कूल मास्टर थे। वे ज्ञान, संस्कार, निस्वार्थ, नेकी और सच्चाई को जीवन की सबसे बड़ी पूजा मानते थे। उन्हीं के संस्कारों में पले बड़े विद्या भूषण ने जिंदगी भर इन तत्वों का पालन किया। विद्याभूषण ने अपने पिता के स्कूल से ही अपनी स्कूली शिक्षा पूरी की है। उस समय स्कूल में सबसे होनहार, संस्कारशील एवं विनम्र छात्र के रूप में विद्याभूषण को जाना जाता था। जब स्कूल में मुआयनो के लिए डिप्टी साहब आते थे, तब विद्याभूषण को ही आगे किया जाता था। एक डिप्टी साहब ने तो विद्याभूषण की प्रतिभा देखकर उसे पांच रुपये बक्षीस देकर पीठ थपथपाई थी। उस वक्त पिता ने कहा था कि "ऐसी छोटी-मोटी उपलब्धियों का उद्देश्य मात्र यही होना चाहिए कि अपने परिश्रम और अध्यवसाय में दूनी लगन और निष्ठा से जुट जाया जाए, यह नहीं कि उसी को

सोच-सोच कर मगन होते रहो और अपनी प्रतिदिन की पढाई भी न कर पाओ।" पिता के इन्हीं संस्कारों एवं विचारों को आदर्श मानकर विद्याभूषण जिंदगी भर इसी रास्ते पर चलता रहा। संस्कार, विनय, सच्चाई, शिष्टाचार एवं राष्ट्र प्रेम जैसे गुण विद्याभूषण में कूट-कूट कर भरे थे। अथक परिश्रम एवं लगन के बलबूते पर आगे चलकर विद्याभूषण ने हिंदी विषय में पीएच.डी. की उपाधि प्राप्त की। अब वह एक ईमानदार एवं प्रतिभा संपन्न अध्यापक के रूप में देश के लिए संस्कारशील भावी पीढ़ी का निर्माण करने के लिए लालायित था। इसलिए उसने राधिका देवी बिसारिया कॉलेज में जूनियर के लिए अध्यापक के रूप में कार्य ग्रहण किया। हालांकि उसकी योग्यता एवं उपाधियां स्नातक की कक्षा के लिए थीं। फिर भी परिस्थितियों से समन्वय करते हुए उसने इस पद को सहर्ष स्वीकार किया।

एक अध्यापक के रूप में विद्याभूषण ने जब शिक्षा जगत में कदम रखा तो उस वक्त परिस्थितियां बिल्कुल बदल गई थीं। अब लक्ष्मी एवं सरस्वती में महागठबंधन हुआ था। ज्ञान की जगह अर्थ को महत्वपूर्ण माना जाने लगा था। इस बदलती स्थिति से वे संघर्ष करने लगे थे। रतन बरुआ जैसे छात्र जो अपने बाप दादाओं की कमाई पर मौज-मस्ती करते हैं। उनके लिए शिक्षा का अर्थ केवल उपाधि पाना है, और जिसे पाने के लिए वह किसी भी हद तक जाने के लिए तैयार है। शिक्षा और शिक्षक उनके लिए मजाक का विषय है अपने अध्यापक के प्रति उनके मन में तो ना तो श्रद्धा है ना आदर सम्मान ऐसे छात्र से विद्याभूषण की मुठभेड़ हो जाती है। रतन बरुआ कदम-कदम पर उन्हें अपमानित करता है। उनकी मजाक उड़ाता है। इतना ही नहीं बल्कि उन्हें डरता धमकता भी है।

शिक्षा क्षेत्र अब सबसे अधिक आमदनी का व्यवसाय बन गया है। विद्यालय एवं महाविद्यालय के निर्माण का उद्देश्य अब शिक्षा देना नहीं है, बल्कि उसके आड में पैसा कमाना है। संस्था चालक इस शिक्षा मंदिर के द्वारा अधिक से अधिक धनराशि का प्रसाद प्राप्त करना चाहते हैं। शासन द्वारा अनुदान प्राप्त करना चाहते हैं। इस विडंबना को प्रस्तुत उपन्यास में उठाया गया है। प्रिंसिपल राजदान कहते हैं कि “एम. एल.ए. ने दोस्ताने ढंग से चेरममैन को कृतार्थ किया है। सारे कागजात दुरुस्त करवा देने का पूरा आश्वासन रुकी हुई ग्रांट की भागीरथ धारा फिर से विद्यालय को आप्लावित करेगी शर्त सिर्फ एक बहुत छोटी सी अभी-अभी एम.ए. करके आये उनके भांजे को फिलहाल कॉलेज में व्याख्याता का कार्यभार सौंप दिया जाये।”² इससे प्रतीत होता है कि, अनुदान के लिए मैनेजमेंट अयोग्य व्यक्ति को भी अध्यापक बनने के लिए तैयार है। उन्हें न तो बच्चों की शिक्षा की चिंता है, न भविष्य की। फिर ऐसे मजबूरीवश या केवल समाज में प्रतिष्ठा पाने के लिए अध्यापक बने लोग क्या सही मायने में बच्चों को ज्ञान एवं संस्कार दे पायेंगे।

शिक्षा क्षेत्र बाजार बन गया है। शिक्षा को खरीदा एवं बेचा जा रहा है। इस बाजार में नैतिक मूल्य की जगह आर्थिक मूल्य ने ली है। विद्याभूषण स्वगत कथन के द्वारा कहते हैं कि “यहां पर क्यों सबसे सस्ती सबसे सडी-गली चीजें डडी मार-मार कर बेची जा रही है। बिक्री की मंडी के बीचो-बीच संस्कृति और संहिताओं के नाम पर यह कैसा अंध-व्यापार चल रहा है। रुको भाई, रुको, ऐसा क्यों बेचते हो। ऐसा क्यों खरीदते हो।”³

शिक्षा के इस बाजार में ज्ञान एवं संस्कारों को कोई मूल्य नहीं है। ना उसे कोई खरीदना चाहता है।

शिक्षा व्यवस्था में पनप रहे इस मूल्यहीनता एवं व्यवसायिकता के कारण विद्याभूषण जैसे ईमानदार अध्यापक का दमघुटने लगा है। यह खतरे की घंटी है। वह बेचारे अकेले इस व्यवस्था का सामना नहीं कर पाते। उन्हें एक ओर नौकरी की चिंता है तो दूसरी ओर पारिवारिक जिम्मेदारियां हैं। पीएच.डी. जैसी सर्वोच्च उपाधियां पाकर भी बेरोजगारों की संख्या बढ़ रही है। पीएच.डी. अब उनके लिए सम्मान का नहीं अपमान का विषय बन गई है। वे कहते हैं “उस पीएच.डी. की औकात और बिसात तो सबको मालूम है, भाई न ग्रेड न ग्रेच्युटी, एक अदना सी टेपेरेरी सर्विस और हजार तरह की जवाबदेही, मेरी यह पीएच.डी. मेरे लिए कितना बड़ा बोझ हो गई है, इतनी बड़ी लानत कि तुम सोच भी नहीं सकते... सोचता हूं कभी जो पीएच.डी. इतनी बड़ी नियामत लगती थी, आज कितनी बड़ी विडम्बना बन गई है।”⁴ आज विद्याभूषण जैसे लाखों युवक पीएच.डी. जैसी उपाधि प्राप्त कर भी नौकरी की तलाश में दर-दर भटक रहे हैं। ना उन्हें रोजगार मिल रहा है, ना सम्मान। परिणाम स्वरूप आत्महत्या करने के लिए मजबूर हो रहे हैं।

डॉ. केशव माधवराव मोरे

विद्याभूषण इस भयावह स्थिति का सामना नहीं कर पाते। एक आंतरिक द्वंद एवं पीड़ा से तड़पते रहते हैं। गरीबी बेरोजगारी की समस्या ने उन्हें हताश एवं निराश बना दिया है। इतना पढ़ लिखकर भी अपने परिवार की जिम्मेदारी को नहीं उठा पा रहे हैं। फिर क्या फायदा इस उपाधियों का इस विवस्था ने उन्हें खोखला एवं कमजोर बना दिया है। दुर्भाग्य की बात तो यह है कि, उनकी कोई गलती न होकर भी उन्हें जब इस अस्थायी नौकरी से भी इस्तीफा देने के लिए कहा जाता है, उस वक्त उनकी आंखों से टप-टप आंसू बहने लगते हैं। अपने इस लाचार एवं दयनीय स्थिति पर तरस खाकर वे आत्महत्या करने के लिए सोचते हैं वे कहते हैं “और तुम विद्याभूषण बैठे-बैठे, असहाय, अपाहिज-से देखते रहोगे यह सब... अपने आपको अपने पूरुषत्व को धिक्कारते... नहीं... नहीं डाल दो एक पूरी अंधेरी यवनिका का इस अपाहिज, टुकड़े-टुकड़े की मोहताज जिंदगी पर कूद पडो हरहराती, हलकोरती लहरों में इस बुर्जी से... खत्म, सब कुछ खत्म... सिर्फ लोकल अखबार के एक कोने में तुम्हारा नाम और अस्तित्व की समापन किस्त छप जायेगी, बस...।”⁵ शिक्षा जगत में उत्पन्न इस भयावह स्थिति का सामना करते हुए विद्याभूषण जैसे कई अध्यापक दम तोड़ रहे हैं। जो शिक्षा मनुष्य के संपूर्ण विकास का आधार थी आज वही शिक्षा केवल उपाधि प्राप्त यंत्रमानव निर्माण कर रही है। यह केवल विद्याभूषण का अंत नहीं है, बल्कि शिक्षांत खतरा का खतरा है। दीक्षांत से शिक्षांत तक की ओर इशारा है।

इस प्रकार सूर्यबाला ने इस उपन्यास के माध्यम से शिक्षा जगत से जुड़ी तमाम समस्याओं को उजागर किया है। इस उपन्यास के माध्यम से शिक्षा क्षेत्र में पनप रहे व्यवसायिकता का यथार्थ चित्रण किया है। जो हमें सोच-विचार के लिए मजबूर करता है।

संदर्भ सूची

1. सूर्यबाला, दीक्षांत, अमन प्रकाशन कानपुर, तृतीय संस्करण सन 2017 पृ. क्र. 21
2. वही, पृ. क्र. 86
3. वही, पृ. क्र. 101
4. वही, पृ. क्र. 44
5. वही, पृ. क्र. की 91